कहानी

कोठरी में लड़की

मृणाल पांडे

"दस बरस की पहाड़ी घर की लड़की है, और अब तक इसे बुनना नहीं आता है? कैसी मां हो? अरे, बुनने-पिरोने लगेगी ये मुन्नी, तो ज़रा हीले से लगेगी, वरना दसियों किस्म की खुराफातें इसी उमर में..."

यह वाक्य तो आधा ही छोड़ दिया गया, लेकिन बात जो गेंद की तरह टप्पे खाने पर आयी, तो देर तक फुदकती-फुदकती कोठरी में मंडराती रही।

"मेरी लड़की ने तो चायदानी के लिए जो कढ़ाईदार कवर बुना है, देखो तो, यकीन नहीं कर सकोगी कि एक बच्ची के हाथ का बना है। उसके स्कूल की नन्स जर्मन है, जर्मन! एक-एक फन्दा परखती है चश्मा लगाकर..."

"मेरी लड़की तो बेबी-फ्रॉक बुनने लगी है। अब खुद ऊन छांटकर हमारे पड़ोस वालों की बहू के बच्चे के लिए उसने ऐसा बढ़िया फ्रॉक बुन निकाला है कि दांतों तले अंगुली दबा लो! ऐसी सुडौल जाली बनाती है, जैसे फूल की पंखुड़ी..."

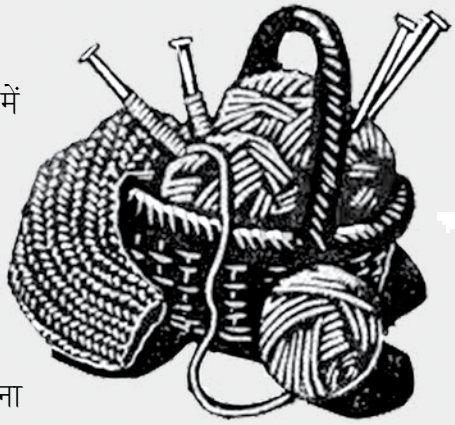

बाद को मां ने ये सारी बातें मुन्नी के आगे पल्ला झाड़कर बिखेर दीं।

"दस बरस की हो गयी हो और अभी तक फ्रॉक की उधड़ी बखिया में सेफ्टीपिन लगाकर यूनिफॉर्म पहन लेती हो, बुनाई-सिलाई कुछ नहीं जानती, अरे, बुनने-पिरोने लगोगी, तो जरा हीले से..."

मुन्नी की भूरी आंखों में जो मां के मुंह से झड़ती इस नई जुबान पर विस्मय उभरा, तो मां ने एक हल्का झूठ भी चट गिठान लगाकर इसी तार से जोड़ दिया...

"मैंने तो आठ बरस से ही सलाइयों पर उल्टे-सीधे और जाली के फन्दे डालना सीख लिया था। शुरू में हाथ साफ़ नहीं था, पर अभ्यास करते-करते चार सलाई वाले मोज़े भी बुनने लगी थी स्कूल में।"

मुन्नी को कोठरी में बिठाकर बुनना-पिरोना सिखाया जाने लगा है। हालांकि इस बड़े से हॉलनुमा कमरे में बैठनें वाली और लड़कियों की तरह चुलबुली मुन्नी अभी भी एकाग्र और तन्मय नज़र नहीं आती, बाकी लड़कियां बड़े सलीके से दो जानूं जाकर बैठती हैं। उनकी सलवारों के पौंचे शिष्टता से उनके टखने ढकते हैं, उनके हाथ एक सौम्य धीरज से ऊन के सुडौल गोले बनवाते हैं, उलझी लच्छियां धीमे-धीमे सुलझाते हैं, उधर मां की बिल्लली मुन्नी है कि अपनी उटंग फ्रॉक गोद में उड़कर हवाई जहाज़ की तरह टांगे फैलाये बैठती है। ऊन की उलझी लच्छी को वह उठाती है, तो ऐसे, जैसे वह कोई जटादार बालों वाला गंधाता पिल्ला हो। उसके हाथ दूसरी लड़कियों की तरह नरम और लुघड़ता से कटे नाखूनों वाले नहीं, झड़बेरियां झड़ाते, मुंडेरों को मापते, ढेले फेंकते उसके नन्हें हाथ छोकरों जैसे भूरे और सख्त हो गये हैं, उसके नाखून बेतरतीबी से कटे हैं, और लड़कों जैसे बाल भी सेही के कांटों की तरह पीछे से खड़े रहते हैं। रोज़ चोटी गुंथाने के दर्दनाक झंझट के बचने को उसने एकबारगी से कैंची उठाकर अपनी एक चोटी काट ली थी, फिर दूसरी चोटी मां को काटनी ही पड़ी थी। पर कुछ बैठने के बरद जल्द

की कोठरी वालियों की समवेत राय बन गयी कि लड़की बिलल्ली भले हो, ज़हीन तो है। एकबारगी से सलाइयों पर फन्दे चढ़ाना-उतारना समझ गयी और अब देखो, नमूने उतारना भी कैसे खटाखट सीख रही है।

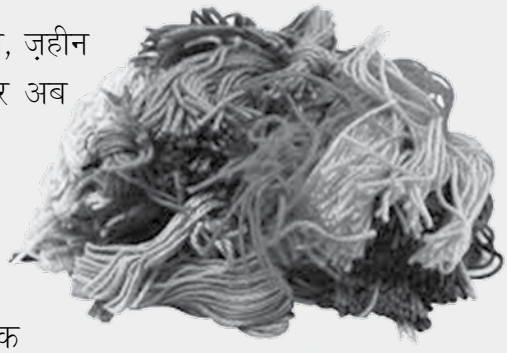

दांतों से ऊन की डोर कुतरती मां उदासी से देखती है। मुन्नी होंठ भींचकर अपने सामने दोनों सलाइयां यूं खटका रही है, जैसे चकमक पत्थर से आग जला रही हो। उसकी टांगों पर झाड़ियों की खरोंचें अभी भी हैं, यह टांगें कमरे में फिट नहीं होतीं। कमरे में बुनाई करती मां भी अब तक कमरे में कहां फिट होती थी? अलबत्ता बेटी के यूं आ बैठने से उसे अब एक किस्म का साथ-सा मिल गया। जब बाहर पानी के परनाले बहते होते हैं और पहाड़ों के पीछे से कोहरा और कोहरे के पीछे से अंधेरा घाटी में लुढ़कते चले आते हैं, तो जी घिरने वाली उस घड़ी में बेटी मां के पैरों के पास बैठी-बैठी सलाइयों पर घर उतारती, गिराती, गिनती रहे, या बुरा नहीं लगता।

घर की औरतें खुश हैं— "देखा, कहा नहीं था कि चटपट सीख लेगी बुनना भी। अरे, दिन-भर शाम भर लग्गी लेकर, ऐसे ऊंचे-ऊंचे फराक पहनकर अब पेड़ों पर लड़कों की तरह चढ़ना क्या? लड़की है, बड़ी हो रही है। ऐसे में कौन जाने, कब कोई बुरी नज़र डाल दे..."

मुन्नी सर ऊपर नहीं करती, वह मां की सलाइयों की खटखट में एक ठण्डा चुप्पा क्रोध भांप सकती है। मां जानती है कि इस तरह बैठना कितना भारी पड़ता है। वह यह भी समझती है कि भीतर पढ़ाई के कमरे में मुन्नी की अधपढ़ी किताबें उसकी आंखों के पीछे अभी भी लगातार कैसे फड़फड़ाती होंगी। और जब वह सोचती है कि होते-होते एक समय आयेगा, जब मुन्नी उन किताबों के अधपढ़े पन्नों में कागज़ का कोना दबाना छोड़ देगी और एक दिन ऐसा होगा, जब वह सिर्फ़ दोपहर की नींद बुलाने को हाथ में कोई भी, कैसी भी किताब उठा लेगी, तो मां की सांस रुकने लगती है।

सच कहें, तो मां का यूं बेटी को जबरन बुनाई सिखाना एकदम नहीं रुचता। जब यहीं मुन्नी पेट के बल लेटी अपनी किताब में से परी-कथा या जोखिम भरी जासूसी कहानी का रस लेती होती है, उसकी आंखों में कैसी अद्‌भुत चमक होती है और उसके लगातार हिलते ऊर्ध्वमुखी टखनों में कैसी गज़ब की फुर्ती, जैसे अभी उनके बगल में से देवदूतों जैसे दो पंख उग आयेंगे और वह अचरज लोक की ओर फटाफट उड़ान भरने लगेगी। जब मुन्नी एक पुराने झाड़न से पतंगे पकड़ने को पिछवाड़े के जंगल में दौड़ती फिर रही होती है, उस वक्त भी तार पर कपड़े फैलाती मां सुनती रहती है कि एक कैसी मीठी-शब्दहीन गुनगुनाहट उसके होंठों से खुद-ब-खुद झरने-सी फूटती रहती है। पर इन इस्पाती सलाइयों को टकटकाती उसकी बेटी ने अपना भोला बातून मुंह कसकर भींच लिया है। उसकी भौंहे पर भी दूसरों में मीन-मेख निकालने वाली एक परिचित और मगरूर झुंझलाहट गांठ बनकर आ बैठी है। क्या एक दिन ऐसा आयेगा, मां अकुलाहट से सोचती हे, पर मुन्नी के कसकर भिंचे इन होंठों के पीछे की गुनगुनाहट सतरंगे बुलबुले की तरह बैठ जायेगी, और फिर या होंठ जब खुलेंगे, तो उनसे अपने नमूनों की वाहवाही और दूसरे की तबाही के चर्चे सौ-सौ पैरों वाले कनखजूरे की तरह रेंगते हुए बाहर चले आयेंगे?

मुन्नी चुपचाप बुन रही है। मां जानती है कि वह उपेक्षा नाट्य करती हुई भी लगातार बड़ों की बातें सुन रही है, और भीतर-ही-भीतर जाने जाने क्या-क्या सोच रही है। मां देर तक उसके होठों को पढ़ती रहती है, पर बेकार! मुन्नी का सोच-विचार होठों के पीछे कसकर छुपता जा रहा है।

मां को भीतर-ही-भीतर पकते ऐसे सोच से डर लगता है। जब उसकी मुन्नी खुले में उजड्ड बालों का जटाजूट धीरे एक टांग से दूसरी पर कूदती मुंडेर-दर-मुंडेर इक्कट-दुक्कट करती रहती थी, तो मां कतई नहीं डरती थी, वह जानती थी कि इस दम उसकी बच्ची का पूरा ध्यान टखनों की पेशियां सिकोड़कर मुंडेरों की ऊंचाई कूदने, आंगन के कोने-कोने की कच्ची पाली, पक्की पाली और सीढ़ियों की ऊंचाई कूदने, आंगन के कोने-कोने की कच्ची पाली, पक्की पाली और सीढ़ियों की ऊंच-नीच गिनने और एक छलांग से लकीर तक की दूरी अपनी सांस साधकर गुनने में ही जुटा हुआ होगा। जिस वक्त वह हल्ला-गुल्ला करती, बकरी के बच्चे की फुर्ती से घास में कुलांचे भरती, झाड़ियों से फल झड़ा रही होती थी उस वक्त भी मां उस पर गुस्से का नाट्य भर करती थी। भीतर से वह निशफिकर रहती कि मुन्नी का बातून मन इस वक्त पक्के फलों का गुच्छा ताकने, कुचली घासों की जंगली गन्ध सूंघने और लाठी थामें खटिक पहरेदारी की पदचाप भांपने में मज़ेदार ढंग से लुढ़क-पुढ़क हो रहा होगा।

पर इस वक्त कोठरी में बैठी उसकी मुन्नी के झुके हुए सर के ऊपर जो बातें गर्द के कणों की तरह उड़-उड़कर इधर-उधर तैर रही हैं, मां को उनसे खटिक की लाठी या पिण्डली की गहरी खरोंच से, कहीं अधिक खौफ़ लगता है। मां नहीं जानती कि चुपचाप ऊन के फन्दों को चढ़ाती-गिराती उसकी बच्ची इन उड़ती बातों का भीतर-ही-भीतर गुप्त नमूनों में लगातार कैसे गूंथती जा रही है। सीधे पर उल्टा! उल्टे पर सीधा, पिछले फन्दे को अगले फन्दे पर चढ़ाती हुई उसकी मुन्नी जाने कैसी-कैसी अंधेरी और ऊटपटांग-सी गलियां टटोल रही हो?

"क्या सोच रही है?" आखिरकार मां लाड़ से भेद लेने को पूछती है।

"कुछ नहीं, घर गिन रही थी।" होंठ फिर भिंच जाते हैं।

चुप्पी, मुन्नी की सलाई की नोंक पर एक जोंक की तरह हवा में कुछ तलाश रही है। एक घर नीचे फिसल गया है। मुन्नी दांतों के बीच जीभ दबाये बड़ी तन्मयता से उसे बचाने में लगी है। कमरा अब खाली है शाम घिर रही है।

दफ़्तरों में मर्द और खेल के मैदान से लड़के घर लौटते होंगे, औरतें उनकी ताबेदारी को लौट गयी हैं।

"अम्मा..."

"हां लाल?"

अपने अनुभव से मां को मालूम है कि दस साल का मन अंधेरी बन्द कोठरियों से किस रफ़्तार से भाग सकता है। वह जानती कि कोठरी में कई कथाओं के कई सूत्र किस तरह ऊनी गिठानों में उलझकर एक अजीब बीहड़ चुभनभरा आवरण बनाते हैं और धूसर रंग की सूंस के थूथन जैसी इस्पात की यह सलाइयां घरों, गिठानों की टोह लेते-लेते उनको लेकर जाने क्या-क्या उधेड़बुन रच सकती हैं। मां का मन करता है कि वह मुन्नी के हाथ की बुनाई छीनकर दूर फेंक दे और उसे घुमन्तू फिरने को छुट्टा छोड़ दे फिर से। वह बाग, बगीचा, झरना, तालाब, पेड़ों की उगालें, कांटेदार झाड़ियां, जो चाहें मापे और फलांगे। यह चुभन भरी, उलझी-उलझी लच्छियां, यह ठंडी लोहे की सलाइयां, दीवारों पर टंगे सलमा-सितारे जड़े निरंतर मुस्कराते देवी-देवता, ग्वाल-बाल, यह सब किस दिशा में मुन्नी को न्योत रहे हैं, वह मां बखूबीं जानती है। बरसों से वह खुद पढ़ती रही है, उसी ओर!

पर दस साल की लड़की? आधी बच्ची, आधी...? उसे छुट्टा एकदम बाहर ऐसे ही छोड़ना ठीक होगा? मां हिचकिचा जाती है।

मां का आधा मन कहता है कि काश, वह अपनी मां जैसी होती। तब वह अपने आंचल के छोर से अपनी लड़कियों को जन्म से लेकर ब्याहने तक इसी कोठरी में, यूं कसकर, बांध-बिठा रखती, जैसे वे पुश्तैनी चाबियों का कोई दुर्लभ गुच्छा हों।

वह और उसकी बहनें तो कोठरी से उठाकर बाहर लायी जाती थीं, तो ब्याह करने या पुष्पा की तरह प्रेमी के साथ भाग...

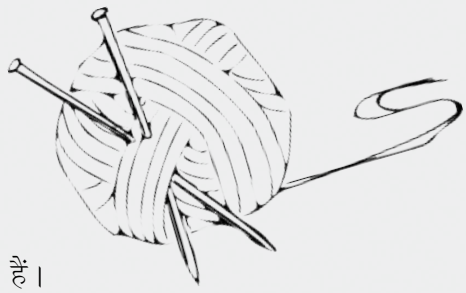

"मां...।"

"क्या लाल?"

"वैसा वाला भागना क्या होता है?"

"कौन-सा बच्चे?"

"पुष्पा मौसी वाला?"

दो बेढंगे-बेड़ौल फन्दे मां की सलाई की ठण्डी नोक से टपकने को आते हैं।

"वो क्या कहते हैं, देख-तेरी बक-बक में घर गिरने को हैं सलाई से।"

दो गदबदी बाल-अंगुलियां गिरते घर छूती हैं— "मां? पुष्पा मौसी की शादी हो गयी? मैंने क्यों नहीं देखा उन्हें?"

"हां, वो और मौसा जी दूर रहते हैं।"

"ओ, और मां, तो क्या मौसा जी की भी शादी उनसे हो गयी?"

"साथ-साथ दोनों की हुई ना?"

"तब फिर भागकर के शादी करना खराब क्यों है?"

"खराब नहीं, पर पहले सबको बता के करनी चाहिए ना शादी!"

"क्यों? शादी तो उन दो की हुई न?"

"अब रहने दो। अभी से बड़ों जैसी बातें मत कर। तू बड़ी होगी, तो खुद समझ जायेगी।"

ऊन, सलाई और नमूने संभालती मां अपने-आपको इस कोठरी में दीवारों के बीच कतई असहाय, कातर और झूठी महसूस करती है। मुन्नी फिर बात नहीं उठाती, सर झुकाये बाहर चली जाती है, पर मां जानती है कि उसका तर्रार दिमाग अब रात-भर उन उलझी बातों के टुकड़ों में रंग मिलाते हुए, गुप्त तस्वीरें-नमूने बनाने-बिठाने में जुटा रहेगी। इस कोठरी से निकली दुनिया उसकी बच्ची के साथ आगे दूर तक चली जायेगी, जैसे कि फैक्स मशीन पर लाइन-दर-लाइन खबरों की इबारतें उभरती जाती हैं, बिन्दु-बिन्दु चेहरे सामने आते रहते हैं। मां के चाहने, न चाहने से कुछ नहीं होगा।

मां का मन करता है कि मुन्नी का हाथ पकड़कर उसे इस घर के बाहर खुले में ले जाकर खड़ा कर दे। वहां, जहां वह हमेशा की तरह उससे साफ़ बेझिझक जुबान में ऐसे ठोस सवाल पूछ सकेगी, जिसके जवाब मां ईमानदारी से उसे दे सके, पर अपने मन में हमेशा डगमगाती मां को यह भी लगता है कि वैसा कर पाने की ताक़त या भरोसा खुद उसमें कहां है? उधर वक्त तेज़ी से गुज़र रहा है और उसकी मुन्नी घड़ी-घड़ी अपने जीवन की उस विराट सच्चाई के पास लगातार आती जा रही है, जिससे पूरी तरह रू-ब-रू होने के बाद औरतों के पास झूठ बोलने या दर-ब-दर हो रहने के अलावा कोई तीसरा चारा नहीं रह जाता।

मृणाल पांडे *हिन्दी साहित्य की वरिष्ठ लेखिका हैं।*